वेदान्ति-ध्वान्त-निवारणम्

ग्रन्थ परिचय

'**वेदान्तिध्वान्त निवारण**' नामक ग्रन्थ भी नवीन वेदान्तियों अथवा अद्वैतवाद के खण्डन में लिखा था। 'वेदान्तिध्वान्त निवारण' की रचना महर्षि ने '**अद्वैतमतखण्डन**' के लगभग साढ़े चार वर्ष बाद की थी।

यह ग्रन्थ **मार्गशीर्ष, संवत् १९३१** (सन् १८७४) में लिखा गया होगा, क्योंकि इसकी रचना महर्षि ने अपने प्रथम बम्बई निवास काल में की थी। उनका यह निवास काल कार्तिक कृष्णा १, सं० १९३१ से मार्गशीर्ष कृष्णा १२ (२० अक्तूबर से ५ दिसम्बर १८७४) तक रहा। वैसे इस पुस्तक के प्रथम संस्करण में इसका मुद्रण काल सं० १९३२ वि० (सन् १८७६) छपा हुआ है। इसके अनुसार, **नवसंवत्सर चैत्र शुक्ल प्रतिपदा १९३३** (२६ मार्च, सन् १८७६) से पूर्व यह ग्रन्थ छप चुका था।

इस पुस्तक का प्रथम संस्करण '**ओरिण्यटल प्रेस**' बम्बई से छपा था। हाँ, इसका दूसरा व तीसरा संस्करण भी छपा था, जिसमें प्रथम संस्करण की हिन्दी भाषा की अशुद्धियों को दूर करने का प्रत्यन किया गया था। **द्वितीय संस्करण श्रावण, संवत् १९३९** में प्रकाशित हुआ।

यह ग्रन्थ संस्कृत एवं हिन्दी दोनों भाषाओं में था। पं० देवेन्द्रनाथ जी द्वारा रचित महर्षि के जीवनचरित से इस पुस्तक के लेखन के विषय में दो विशेष बातें प्रकट होती हैं—

१. आश्चर्य की बात है कि अद्वैतवाद के खण्डन विषयक यह पुस्तक महर्षि ने **घोर अद्वैतवादी कृष्णराम इच्छाराम जी से लिखवाई।**

२. महर्षि ने इस पुस्तक का **लेखन दो ही दिनों में समाप्त** भी कर दिया था। (सम्पादक)

ओ३म्

वेदान्ति-ध्वान्त-निवारणम्

अर्थात्

आधुनिक वेदान्तियों के मत में वेदादि सत्यशास्त्रों के पठनपाठन छूटने से जो ध्वान्त अर्थात् अन्धकार फैल गया है उसका निवारण

जिसमें

श्रौतमार्गानुकूल वादानुवादसहित
वेदान्तमत का निरूपण

छन्दः शिखरिणी

दयापूर्वोपेतं परमपरमाख्यातुमनघाः,
गिरायानं जानन्त्यमतिमतविध्वंसविधिना।
स वेदान्तश्रान्तानभिनवमतभ्रान्तमनसः,
समुद्धर्त्तुं श्रौतं प्रकटयति सिद्धान्तमनिशम्॥

ओ३म्

अथ वेदान्ति-ध्वान्त-निवारणम्

नवीनतर वेदान्ती लोग कपोलकल्पित अर्थ अनर्थरूप करके जगत् की हानिमात्र कर लेते हैं, तथा मनुष्यों को हठ, अभिमानादि दोषों में प्रवृत्त कराके दुःखसागर में डुबा देते हैं। सो केवल अल्पज्ञानी लोग इन के उपदेशजाल में फँस के मत्स्यवत् मरण क्लेशयुक्त होके अधर्म्म, अनैश्वर्य और पराधीनतादि दुःखस्वरूप कारागृह में सदा बद्ध रहते हैं।

एक बात इनकी यह है कि—जीव को ब्रह्म मानना। दूसरी यह है कि—स्वयं पाप करें और कहें कि हम अकर्त्ता और अभोक्ता हैं। तीसरी बात यह है कि—जगत् को मिथ्या कल्पित मानते हैं। [चौथी बात यह है कि]—मोक्ष में जीव का लय मानते हैं तथा न वास्तव मोक्ष और न बन्ध, इत्यादि अनेक इनकी मिथ्या बातें हैं, परन्तु नमूने के लिये इन चार बातों का मिथ्यात्व संक्षेप से दिखलाते हैं:—

१—जीव को ब्रह्म मानने में प्रथम इस वाक्य का प्रमाण देते हैं कि—''**प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म**''। इसको ऋग्वेद का वाक्य कहते हैं, परन्तु ऋग्वेद के आठों अष्टकों में यह वाक्य कहीं नहीं है, किन्तु वेद का व्याख्यान जो ''**एतरेय ब्राह्मण**'' उस में यह वाक्य है, सो ऐसा पाठ है कि—''**प्रज्ञानं ब्रह्म**''। सो इस वाक्य में ब्रह्म का स्वरूप निरूपण किया है कि—

''प्रकृष्टं ज्ञानं यस्मिन् तत्प्रज्ञानं अर्थात् प्रकृष्टज्ञानस्वरूपम्''॥

(व्याख्या)—जिसमें प्रकृष्ट सर्वोत्तम अनन्त ज्ञान है वह प्रज्ञान कहावे अर्थात् प्रकृष्टज्ञानस्वरूप प्रज्ञान विशेषण से ऐसा निश्चित हुआ कि जिसको कभी अविद्यान्धकार अज्ञान के लेशमात्र का भी सम्बन्ध नहीं होता, न हुआ और न होगा। ''ब्रह्म'' जो सब से वृद्ध (बड़ा) और सब जगत् का बढ़ानेवाला, स्वभक्तों को अनन्त मोक्षसुख से अनन्तानन्द में सुख बढ़ानेवाला तथा व्यवहार में भी बृहत् (बड़े) सुख का देनेवाला, ऐसा परमात्मा का स्वभाव और स्वरूप है।

इस वाक्य का नाम ''**महावाक्य**'' नवीन वेदान्तियों ने रक्खा है, सो अप्रमाण है, क्योंकि किसी ऋषिकृत ग्रन्थ में इन का ''**महावाक्य**'' नाम नहीं लिखा है।

''**अहं ब्रह्मास्मि**'' इस वाक्य का वेदान्ती लोग ऐसा अर्थ करते हैं कि मैं ब्रह्म हूँ अर्थात् भ्रान्ति से मैं जीव बना था, सो अब मैंने जान लिया कि साक्षात् ब्रह्म हूँ।

यह अनर्थ इनका बिलकुल खोटा है, क्योंकि पूर्वापर ग्रन्थ का सम्बन्ध देखे विना चोर की नाईं बीच में से एक टुकड़ा लेके अपना मतलबसिन्धु का अर्थ करके स्वार्थसिद्धि करते हैं। देखो, इस वचन का पूर्वापर सम्बन्ध इस प्रकार है—शतपथ ब्राह्मण, काण्ड १४। प्रपाठक ३। ब्राह्मण २। कण्डिका १८—

''आत्मेत्येवोपासीत। अत्र ह्येते सर्वऽएकं भवन्ति॥''

इत्युपक्रम्य—तदेतत् प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽअन्यस्मात् सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा। स योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् प्रियꣳ रोत्स्यतीतीश्वरो ह तथैव स्यादात्मानमेव प्रियमुपासीत। स य आत्मानमेव प्रियमुपासते न हास्यप्रियं प्रमायुकं भवति॥ १९॥

तदाहुः। यद् ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते किमु तद् ब्रह्मावेद्यस्मात्तत् सर्वमभवदिति॥ २०॥

ब्रह्म वाऽइदमग्रऽआसीत्। तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति। तस्मात्तत् सर्वमभवत्तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथऽर्षीणां तथा मनुष्याणाम्॥ २१॥

तद्धैतत् पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे। अहं मनुरभवꣳ सूर्यश्चेति। तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाऽहं ब्रह्मास्मीति स इदꣳ सर्वं भवति। तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशतऽआत्मा ह्येषाꣳ स भवत्यथ योऽन्यां देवतामुपासतेऽअन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद, यथा पशुरेवꣳ स देवानां यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युरेवमेकैकः पुरुषो देवान् भुनक्त्येकस्मिन्नेव पशावादियमानेऽप्रियं भवति किमु बहुषु। तस्मादेषां तन्न प्रियं तदेतन्मनुष्या विद्युः॥ २२॥

'**अतति सर्वत्र व्याप्नोतीत्यात्मा परमेश्वरः**'। इस प्रकारण में यह है कि सब जीव परमेश्वर की उपासना करें और किसी की नहीं। क्योंकि

सर्वव्यापी सर्वान्तर्यामी जो परब्रह्म वह सब से प्रियस्वरूप है, उसी को जानना। पुत्र, वित्त, धन तथा सब जगत् के सत्य पदार्थों से वही ब्रह्म प्रियतर है। तथा अन्तरतर आत्मा का अन्तर्यामी परमात्मा है, जो कि अपने सबों का आत्मा है। जो कोई इस आत्मा से अन्य को प्रिय कहता है उसके प्रति **(ब्रूयात्)** कहे कि परमात्मा से तू अन्य को प्रिय बतलाता है, सो तू दुःखसागर में गिर के सदा रोवेगा। और जो कोई परमात्मा को छोड़ के अन्य की उपासना वा प्रीति करेगा सो सदा रोवेगा। जो पाषाणादि जड़ पदार्थों की उपासना करेगा सो सदैव रोवेगा। **(आत्मानमेव प्रियमुपासीत। स य आत्मानमेव प्रियमुपासते न हास्यप्रियं प्रमायुकं भवति)** और जो सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, निराकार, अज इत्यादि विशेषणयुक्त परमेश्वर की उपासना करता है, वह इस लोक इस जन्म तथा परलोक परजन्म तथा मोक्ष में सर्वानन्द को प्राप्त होता है। और उसी ईश्वर की कृपा से **(ईश्वरो ह तथैव स्यात्)** मनुष्यों के बीच में परमैश्वर्य को प्राप्त हो के समर्थ सत्तावान् होता है अन्य नहीं। तथा **(न हास्यप्रियं प्रमायुकं भवति)** यह जो परब्रह्म का उपासक उसका आनन्द सुख 'प्रमायुक' नष्ट कभी नहीं होता, किन्तु उसको सदैव स्थिर सुख रहता है। क्योंकि **(अत्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति)** जिस ब्रह्मज्ञान में सब परस्पर प्रीतिमान् होके जैसा अपने को सुख वा दुःख, प्रिय और अप्रिय जान पड़ता है, वैसा ही सब प्राणीमात्र का सुख और दुःख तुल्य समझ के न्यायकारित्वादिगुणयुक्त और सब मनुष्यमात्र के सुख में एकीभूत होके एकीरूप सुखोन्नति करने में प्रयत्न सब करते हैं, क्योंकि जैसा अपना आत्मा है, वैसा सब के आत्माओं को वह जानता है॥ १९॥

(तदाहुः इत्यादि) जो मनुष्य ब्रह्मविद्यायुक्त हैं, वे ऐसा कहते हैं कि परमेश्वर के सामर्थ्य से सब जगत् उत्पन्न हुआ और सब जगत् की उत्पत्ति करनेवाला वही है, ऐसा ब्रह्मविद्या-वालों का निश्चय है। सब जगत् में **(तद् ब्रह्मावेत्)** व्याप्त होके सबकी रक्षा कर रहा है, **(किमु)** और कोई अन्य जगत् का कारण नहीं॥ २०॥

(ब्रह्म वा इदमित्यादि) सृष्टि के आदि में एक सर्वशक्तिमान् ब्रह्म ही वर्त्तमान था, सो अपने आत्मा को **(अहं ब्रह्मास्मीति तदेवावेत्)** स्वस्वरूप का विस्मरण उस को कभी नहीं होता। उस परमात्मा के सामर्थ्य से सब जगत् उत्पन्न हुआ, ऐसा विद्वानों के बीच में से जो ब्रह्म अविद्यानिद्रा

से उठके जानता है, सो ही ब्रह्मानन्द सुखयुक्त होता है। तथा ऋषि और मनुष्य इनके बीच में जो अज्ञाननिद्रा से उठके ब्रह्मविद्यारूप प्रकाश को प्राप्त होता है, सो ब्रह्म के नित्य सुख को प्राप्त होता है॥ २१॥

(तद्वैतदित्यादि) इस ब्रह्म को वामदेव ऋषि देखता और प्राप्त हुआ मैं मनु और सूर्य्य नामक ऋषि देहधारी अथवा सूर्य्यलोकस्थ जन्मवाला हुआ था, ऐसा विज्ञान समाधिस्थ परमेश्वर के ध्यान में तत्पर जो वामदेव ऋषि उसको प्राप्त हुआ था। सो यह विज्ञान जिसको इस प्रकार से होगा सो भी इस प्रकार जानेगा कि **(य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति)** मैं ब्रह्म हूँ, अर्थात् ब्रह्मस्थ कि मेरे बाहर और भीतर ब्रह्म ही व्यापक (भर रहा) है। जो इस प्रकार ज्ञानवाला पुरुष होता है, सो इस सब सुख को प्राप्त होता है, उसके सामने अनैश्वर्यवाले जो देव इन्द्रिय वा अन्य विद्वान् ऐश्वर्यवाले नहीं होते, किन्तु ऐसा जो ब्रह्म का उपासक सो इन इन्द्रिय और अन्य विद्वानों का आत्मा अर्थात् प्रियस्वरूप होता है।

जैसे आकाश से घर भिन्न नहीं होता तथा आकाश घर से भिन्न नहीं, और आकाश तथा घर एक भी नहीं किन्तु पृथक्-पृथक् दोनों हैं, एवं जीवात्मा और परमात्मा व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध से भिन्न वा अभिन्न नहीं हो सकता। सो इसी 'बृहदारण्यक के छठे प्रपाठक, में स्पष्ट लिखा है, सो यह वचन है:—

य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः॥

(व्याख्या)—हे जीवात्मन्! जो परमात्मा तेरा अन्तर्यामी अमृतस्वरूप उपास्य है, तेरे में व्यापक हो के भर रहा है, तेरे साथ है और तेरे से अलग है तथा मिल भी रहा है, जिसको तू नहीं जानता, क्योंकि जिसका तू शरीर है, जैसे यह स्थूल शरीर जीव का है, वैसे परमात्मा का तू भी शरीरवत् है, जो तेरे बीच में रह के तेरा नियन्ता है, उसी अन्तर्यामी को छोड़के दूसरे पदार्थों की उपासना मत कर।

जो अन्य देव अर्थात् ईश्वर से भिन्न श्रोत्रादि इन्द्रिय अथवा किसी देहधारी विद्वान् देव को ब्रह्म जाने अथवा उपासना करे वा ऐसा अभिमान करे कि मैं तो ईश्वर का उपासक नहीं, उससे मैं भिन्न हूँ तथा वह मेरे से भिन्न है, उस से मेरा कुछ प्रयोजन नहीं, किंवा ईश्वर नहीं है, अथवा ऐसा कहता है कि मैं ही ब्रह्म हूँ, सो इन्द्रियों वा देहधारी विद्वानों का पशु

है, जैसा कि बैल वा गर्दभ वैसा वह मनुष्य है, जो परमेश्वर की उपासना नहीं करता॥ २२॥

इत्यादि प्रकरण विचार के विना चार अक्षर को पकड़ के चोरवत् कपोलकल्पित अर्थ का प्रमाण नहीं होता है। ग्रन्थ-विस्तार भय से अधिक नहीं लिखते हैं। यह भी यजुर्वेद का वचन नहीं है किन्तु शतपथ ब्राह्मण का यह पूर्वोक्त वचन है।

वैसे ही **''तत्त्वमसि''** यह भी सामवेद का वचन नहीं है, किन्तु सामब्राह्मणान्तर्गत 'छान्दोग्य' उपनिषद् का है। इसका भी पूर्वापर प्रकरण छोड़ के नवीन वेदान्तियों ने अनर्थ कर रक्खा है। उस में ऐसा प्रकरण है कि:—

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्व्वं तत् सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति॥

उद्दालक अपने श्वेतकेतु पुत्र को उपदेश देते हैं कि—सो पूर्वोक्त परमात्मा सब जगत् का आत्मा है। सो कैसा है कि जो (अणिमा) अत्यन्त सूक्ष्म है कि प्रकृति, आकाश और जीवात्मा से भी अत्यन्त सूक्ष्म तथा वही सत्य है। हे श्वेतकेतो! यही सब जगत् का अन्तर्यामी आधारभूत सर्वाधिष्ठान है। सो ब्रह्म सनातन, निर्विकार, सत्यस्वरूप, अविनश्वर है।

(प्रश्न)—जैसे ईश्वर सब जीवादि जगत् का आत्मा है, वैसे ईश्वर का भी कोई अन्य आत्मा है वा नहीं?

(उत्तर)—(स आत्मा) परमेश्वर का आत्मान्तर कोई नहीं, किन्तु उस का आत्मा वही है। हे श्वेतकेतो! जो सर्वात्मा है, सो तेरा भी अन्तर्यामी अधिष्ठान आत्मा वही है। अर्थात्—**''तदन्तर्यामी तदधिष्ठान-स्तदात्मकस्त्वमसीति फलितोऽर्थः''** तत्सहचरण वा तत्सहचार उपाधि इस वाक्य में जानना।

यष्टिकां भोजय अर्थात् यष्टिकया सहचरितं ब्राह्मणं भोजयेति गम्यते, तथैव तद् ब्रह्म सहचरितंस्त्वमसीत्यवगन्तव्यम्। तथा, अहं ब्रह्मास्मीत्यत्राहं ब्रह्मसहचरितो वा ब्रह्मस्थोऽस्मीति विज्ञेयोऽर्थः। तात्स्थ्योपाधिना यथा मञ्चाः क्रोशन्तीत्यत्र मञ्चस्थाः क्रोशन्तीति विज्ञायते, एवं यत्र यत्रासम्भव आगच्छेत्तत्र तत्रोपाधिनाऽर्थो वेदितव्यः। अत्र न्यायदर्शनस्य द्वितीयाध्यायस्थं चतुष्षष्टितमं सूत्रं प्रमाणमस्ति—

सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनाधिपत्येभ्यो ब्राह्मणमञ्चकटराजसक्तुचन्दनगङ्गाशाटकान्नपुरुषेष्वतद्भावेपि तदुपचारः॥ एषु दशविधासम्भवेषु वाक्यार्थेषु दशोपाधयो भवन्तीति वेद्यम्॥

यहाँ भी सर्वशक्तिमत्व भ्रान्त्यादिदोषरहितत्वादि गुणवाले ब्रह्म का सम्भव जीव में कभी नहीं हो सकता है, क्योंकि अल्पशक्तिमत्त्व, भ्रान्त्यादि दोषसहितत्वादि गुणवाला जीव है। इससे ब्रह्म जीव की एकता मानना केवल भ्रान्ति है।

चौथा **''अयमात्मा ब्रह्म''** इसको अथर्ववेद का वाक्य बतलाते हैं। यह अथर्ववेद का तो वाक्य नहीं है किन्तु माण्डूक्योपनिषदादिकों का है। इसका तो स्पष्ट अर्थ है कि विचारशील पुरुष अपने अन्तर्यामी को प्रत्यक्ष ज्ञान से देखके कहता है कि यह जो मेरा अन्तर्यामी है, यही ब्रह्म है, अर्थात् मेरा भी यह आत्मा है। अपने उपास्य का प्रत्यक्षानुभवविधायक जीव के समझने के लिये यह वाक्य है।

तथा—**''योऽसावादित्ये पुरुषस्सोऽसावहम्''** यह यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय का वाक्य है। जो आदित्य में अर्थात् प्राण में पुरुष है, वह मैं जीवात्मा हूँ। **''आदित्यो वै प्राणः''** शतपथब्रह्मणे। तथा—**''आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमाः''** इति मुण्डकोपनिषदि। इस प्रमाण से जो प्राण में पूर्ण, प्राण में सोता, प्राण का प्रेरक सो जीवात्मा पुरुष मैं हूँ।

''यद्वा परमेश्वरोऽभिवदति—हे जीवाः! योऽसौआदित्ये बाह्ये सूर्ये किं वा अन्तर्गते प्राणे स असौ अहमेवास्मीति मां वित्त''। हे जीवो! मुझको बाहर और भीतर तुम लोग जानो, कि सूर्यादि सब स्थूल जगत् तथा आकाश और जीवादि सूक्ष्म जगत् के बीच में मैं जो ईश्वर सो परिपूर्ण हूँ। ऐसा तुम लोग मुझको जानो। क्योंकि इस मन्त्र के आगे **''अग्ने नयेत्यादि''** मोक्षार्थ ईश्वर की प्रार्थना कथित है, तथा **''ओं खं ब्रह्म'' ओं** जिसका सर्वोत्तम नाम है, **खं** आकाश की नाईं व्यापक सर्वाधिष्ठान जो है सो सब से बड़ा सब जीवों का उपास्य ब्रह्म है। **''सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत''** यह छान्दोग्योपनिषद् का वचन है। इसका अर्थ भी तात्स्थ्योपाधि से करना—**''इदं सर्वं जगत् ब्रह्म अर्थात् ब्रह्मस्थम्। यद्वा इदं यज्जगदधिष्ठानं तत्सर्वं ब्रह्मैव, नात्र किञ्चिद्वस्त्वन्तरं मिलितमिति विज्ञेयम्, यथेदं सर्वं घृतमेव नेदं**

तैलादिभिमिश्रितमिति॥''

यह सब जगत् ब्रह्म नाम ब्रह्मस्थ ही है, अथवा यह प्रत्यक्षान्तर्यामी जो चेतन सो केवल एकरस ब्रह्म वस्तु है। इसमें दूसरी कोई वस्तु मिली हुई नहीं, जैसे किसी ने कहा कि यह सब घृत है अर्थात् तैलादिक से मिश्रित नहीं है, वैसे उस ब्रह्म की उपासना शान्त होके जीव अवश्य करे, और किसी की नहीं॥

(२) दूसरी यह बात है कि इस शरीर में कर्त्ता और भोक्ता जीव ही है, क्योंकि अन्य सब बुद्ध्यादि जड़ पदार्थ जीवाधीन हैं। सो पाप और पुण्य का कर्त्ता और भोक्ता जीव से भिन्न कोई नहीं। क्योंकि 'बृहदारण्यकादि उपनिषद्' तथा 'व्याससूत्र' और 'वेदादिशास्त्रों' में यही सिद्धान्त है—**''श्रोत्रेण शृणोति, चक्षुषा पश्यति, बुद्ध्या निश्चिनोति, मनसा सङ्कल्पयति''** इत्यादिक प्रतिपादन किये हैं। जैसे **'असिना छिनत्ति शिरः'** तलवार को लेके किसी का शिर काटता है, इसमें काटने का कर्त्ता मनुष्य ही है, काटने का साधन तलवार है तथा काटने का कर्म शिर है, इसमें पाप और दण्ड मनुष्य (जो मारने वाला है उस) को होता है, तलवार को नहीं। इसी प्रकार श्रोत्रादिकों से पाप पुण्य का कर्त्ता भोक्ता जीव ही है, अन्य नहीं। यह 'गोतम मुनि' तथा 'व्यासादिकों' ने सिद्ध किया है कि—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति॥

ये छः (इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान) आत्मनिष्ठ हैं।

''तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति'' इसमें भी जीव सुख दुःख का भोक्ता और पाप पुण्य का कर्त्ता सिद्ध होता है। अनुभव से भी जीवात्मा ही कर्त्ता और भोक्ता है, इसमें कुछ संदेह नहीं कि केवल इन्द्रियाराम होके विषयभोगरूप स्वमतलब साधने के लिये यह बात बनाई है कि… जीव अकर्त्ता, अभोक्ता और पाप पुण्य से रहित है, यह बात नवीन वेदान्ती लोगों की मिथ्या ही है॥

(३) तीसरे इनकी यह बात है कि जगत् को मिथ्या कल्पित कहते और मानते हैं। सो इनका केवल अविद्यान्धकार का माहात्म्य है। अन्य अधिक न हो इसलिये जगत् सत्य होने में एक ही प्रमाण पुष्कल है:—

सन्मूलाः सोम्येमाः प्रजा सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः॥

यह छान्दोग्य उपनिषद् का वचन है।

(अर्थ)—जिसका मूल सत्य है उसका वृक्ष मिथ्या कैसे होगा। तथा जो परमात्मा का सामर्थ्य जगत् का कारण है, सो नित्य है, क्योंकि परमात्मा नित्य है, तो उसका सामर्थ्य भी नित्य है, उसी से यह जगत् हुआ। सो यह मिथ्या किसी प्रकार से नहीं होता।

जो ऐसा कहो कि—**''आदावन्ते च यन्नास्ति वर्त्तमानेऽपि तत्तथा''।** सो यह बात अयुक्त है, क्योंकि जो पूर्व नहीं है सो फिर नहीं आ सकता, जिस कूप में जल नहीं है, उससे पात्र में जल नहीं आता। इसलिये ऐसा जानना चाहिये कि ईश्वर के सामर्थ्य में अथवा सामर्थ्यरूप जगत् पूर्व था, सो इस समय है और आगे भी रहेगा।

कोई ऐसा कहे कि संयोगजन्य पदार्थ संयोग से पूर्व नहीं हो सकता, वियोगान्त में नहीं रहता, सो वर्त्तमान में भी नहीं, सो जानना चाहिये।

इसका यह उत्तर है कि—विद्यमान सत् पदार्थों का ही संयोग होता है, जो पदार्थ नहीं हों उनका संयोग भी नहीं होता, इससे वियोग के अन्त में भी पृथक्-पृथक् वे पदार्थ सदैव रहते हैं, कितना ही वियोग हो तो भी अन्त में अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ रह ही जाता है, इसमें कुछ सन्देह नहीं। इतना कोई कह सकता है कि संयोग और वियोग तो अनित्य हुआ, सो भी मान्य करने के योग्य नहीं। क्योंकि जैसे वर्तमान में संयुक्त पदार्थ होके पृथिव्यादि जगत् बना है, सो पदार्थों के मिलने के स्वभाव के विना कभी नहीं मिल सकते, तथा वियोग होने के विना वियुक्त नहीं हो सकते। सो मिलना और पृथक् होना यह पदार्थों का गुण ही है। जैसे मिट्टी में मिलने का गुण होने से घटादि पदार्थ बनते हैं, बालुका से नहीं, सो मिट्टी में मिलने और अलग होने का गुण ही है, सो गुण सहज स्वभाव से है, वैसे ईश्वर का सामर्थ्य जिससे यह जगत् बना है, उसमें संयोग और वियोगात्मक गुण सहज (स्वाभाविक) ही है। इससे निश्चित हुआ कि जगत् का कारण जो ईश्वर का सामर्थ्य सो नित्य है। तो उसके वियोग आदि गुण भी नित्य हैं। इससे जो जगत् को मिथ्या कहते हैं, उनका कहना और सिद्धान्त मिथ्याभूत है, ऐसा निश्चित जानना॥

(४) चौथी इनकी यह बात है कि जीव का लय ब्रह्म में मोक्षसमय में मानते हैं, जैसे समुद्र में बहुत विंदु का मिलना। यह भी इनकी बात मिथ्या है। इसके मिथ्या होने में प्रमाण हैं, परन्तु ग्रन्थविस्तार न हो इसीलिये संक्षेप से लिखते हैं—

'कठवल्ली' तथा 'बृहदारण्यकादि' उपनिषदों में मोक्ष का निरूपण किया है:—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्॥

(अर्थ)—जब जीव का मोक्ष होता है, तब पाँच ज्ञानेन्द्रियों का ज्ञान मन के साथ अर्थात् विज्ञान के साथ स्थिर हो जाता है, और बुद्धि जो निश्चयात्मक वृत्ति सो चेष्टा न करे, अर्थात् शुद्ध ज्ञानस्वरूप जीवात्मा परमात्मा में परमानन्दस्वरूपयुक्त होके सदा आनन्द में रहता है। उसीको परमगति अर्थात् मोक्ष कहते हैं॥

सो अन्यत्र भी कहा है कि:—

परमज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते॥

इति श्रुतिर्बृहदारण्यकस्य॥

परम ज्योति जो परमात्मा उसको **(उपसम्पद्य)** अर्थात् अत्यन्त समीपता को प्राप्त होके **(स्वेन रूपेण)** अर्थात् अविद्यादि दोषों से पृथक् होके शुद्ध युक्त, ज्ञानस्वरूप और स्वसामर्थ्यवाला जीव मुक्त हो जाता है॥

वही स्वरूप 'शारीरक सूत्रों' के चतुर्थाध्याय के चतुर्थपाद में निरूपण किया है कि:—

अभावं वादरिराह ह्येवम्॥

मोक्षसमय में मन को छोड़ के अन्य इन्द्रिय वा शरीर जीव के साथ नहीं रहते, किन्तु मन तो रहता ही है, औरों का अभाव होता है, यह निश्चय वादरि आचार्य्य का है॥

तथा—भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्॥

जैमिनि आचार्य्य का यह मत मोक्षविषयक है कि जैसे मोक्ष में मन जीव के साथ रहता है, वैसे इन्द्रियों तथा स्वशक्तिस्वरूप शरीर का सामर्थ्य भी मोक्ष में रहता है। अर्थात् शुद्ध स्वाभाविक सामर्थ्ययुक्त जीव मोक्ष में भी रहता है॥

तथा वादरायण (व्यासजी) का मत ऐसा है कि:—

द्वादशाहवदुभयविधं वादरायणोऽतः॥

जैसे मृत शौच की निवृत्ति के पश्चात् द्वादशवाँ जो दिन सो सत्रयागरूप

माना है और भिन्न भी माना जाता है, उस दिन में यज्ञ के भाव और अभाव दोनों हैं, तद्वत् स्थूल शरीर तथा अविद्यादि क्लेशों का अत्यन्त अभाव और ज्ञान तथा शुद्ध स्वशक्ति का भाव सदा मोक्ष में बना रहता है। सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा के साथ सब जन्ममरणादि दुःखों से छूट से सदा आनन्द में युक्त जीव रहता है, यह वादरायण जो व्यासजी उनका मत है॥

और 'गोतम ऋषि' का भी ऐसा ही मत है—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः॥ २॥

बाधनालक्षणं दुःखम्॥ २१॥

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः॥ २२॥ —न्यायदर्शन अ० १। आ० १

मिथ्या ज्ञान ऐसा है कि जड़ में चेतनबुद्धि और चेतन में जड़बुद्धि, इत्यादि अनेक प्रकार का मिथ्या ज्ञान है; उस की निवृत्ति होने से अविद्यादि जीव के दोष निवृत्त हो जाते हैं, दोष की निवृत्ति होने से प्रवृत्ति जो कि विषयासक्ति और अन्याय में आसक्ति है, वह निवृत्त हो जाती है। प्रवृत्ति से छूटने से जन्म छूट जाता है, जन्म के छूटने से दुःख छूट जाता है, सब दुःखों के छूटने से अपवर्ग जो मोक्ष वह यथावत् होता है॥२॥

बाधना—विविध प्रकार की पीड़ा अर्थात् जो दुःख हैं उनकी अत्यन्त निवृत्ति के होने से जीव को अपवर्ग जो मोक्ष ईश्वर के आधार में अत्यन्तानन्द वह सदा के लिये प्राप्त होता है, इसका नाम **अपवर्ग** अर्थात् मोक्ष है॥ २१-२२॥

इत्यादिक अनेक प्रमाण हैं कि मोक्ष में जीव का लय नहीं होता, किन्तु अत्यन्तानन्दरूप जीव रहता है। एक अन्य भी प्रमाण देते हैं कि—

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्।
सोऽश्नुते सर्वान् कामान् ब्रह्मणा सह विपश्चितेति॥

तैत्तिरीयोपनिषद्वचनम्॥

जो जीव सत्य, ज्ञान और अनन्तस्वरूप ब्रह्म स्वान्तर्यामी की स्वबुद्धि, ज्ञान में निहित (स्थित) जानता एवं प्राप्त होता है, वह परम व्योम व्यापक स्वरूप जो परमात्मा उस में मोक्षसमय में स्थिर होता है। पश्चात् सर्वविद्यायुक्त, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् जो ब्रह्म उस के साथ सब कामों को

प्राप्त होता है, अर्थात् सब दु:खों से छूटके परमेश्वर के साथ सदानन्द में रहता है॥

जो लोग जीव का लय मानते हैं, उन के मत में अनिर्मोक्षप्रसङ्ग दोष आता है, तथा मोक्ष के साधन भी निष्फल हो जाते हैं। क्योंकि जैसे सृष्टि के पूर्व ब्रह्म मुक्त था, वही अविद्याभ्रम अज्ञानोपाधि के साथ होने से बद्ध हो गया है। वैसे ही प्राप्त-मोक्ष चेतन को फिर भी अविद्योपाधि का सङ्ग हो जायगा इससे मोक्ष की नित्यता नहीं रही। तथा जिस मोक्ष के लिये विवेकादि साधन किये जाते हैं, उस मोक्ष को प्राप्त होनेवाले जीव का लय ही होना है, फिर सब साधन निष्फल हो जायेंगे, क्योंकि मुक्तिसुख का आनन्द भोगनेवाले जीव का नाम निशान भी नहीं रहता।

तथा जीव ब्रह्म की एकता माननेवालों के मत में ब्रह्म ही भ्रान्त अज्ञानी हो जाता है। क्योंकि जब सृष्टि की उत्पत्ति नहीं हुई थी, तब ज्ञानस्वरूप शुद्ध ब्रह्म था, वही ब्रह्म अविद्यादि दोषयुक्त होके दोषी हो गया। सो यह वेद उपनिषद् तथा वेदान्त शास्त्रों से अत्यन्त विरुद्ध मत है—"**शुद्धमपापविद्धं कविः**" इत्यादि यजुर्वेद संहितादि के वचन हैं कि ब्रह्म सदा शुद्ध, पापरहित और सर्वज्ञादि विशेषणयुक्त है, उस में अज्ञानादि दोष कभी नहीं आ सकते। क्योंकि देश काल वस्तु का परिच्छेद ईश्वर में नहीं, भ्रान्त्यादि दोष अल्पज्ञ जीव में होते हैं, नान्यत्र।

(प्रश्न)—तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्, अनेनात्मना जीवेनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि॥

ये तैत्तिरीयोपनिषदादि के वचन हैं॥

वही ब्रह्म जगत् को उत्पन्न करके फिर उसी में प्रविष्ट हुआ। इस में जीवात्मारूप अन्त:करण में प्रविष्ट होके नाम रूप का व्याकरण करूँ। इससे यह सिद्ध होता है कि वही ब्रह्म जीवरूप बना है।

(उत्तर) यह आप लोगों का अनर्थकरण है। क्योंकि परिपूर्ण, एकरस, सब में जो भरा है, वह प्रवेश वा निकलना नहीं कर सकता, किन्तु जीव बुद्धि से जब तक अज्ञानी रहता है, और उसी बुद्धि से जीव को जब ज्ञान होता है, तब उसी में परमात्मा प्राप्त होता है, अन्यत्र नहीं। इससे जीव को ऐसा मालूम पड़ता है कि ब्रह्म मेरे में प्रविष्ट हुआ था। वा जब-जब जिस-जिस जीव को ईश्वर का ज्ञान होता है, तब तब उस उस को अपने

आत्मा में ही होता है। इस से यह भी निश्चित होता है कि प्रवेश का करनेवाला तथा जिस में प्रवेश करता है उन दोनों का अलग ही होना निश्चित है।

तथा एक प्रवेश का करनेवाला और दूसरा अनुप्रवेश करनेवाला होता है, क्योंकि:—"**शरीरं प्रविष्टो जीवः, जीवमनुप्रविष्ट ईश्वरोऽस्तीति गम्यते**"। इस प्रकार अर्थ करने से ही यथार्थ अभिप्राय इन वचनों का विदित होता है।

किंवा सहायार्थ में तृतीया विभक्ति है—

"**अनेन जीवात्मना शरीरं प्रविष्टेन सह तं जीवमनुप्रविश्याहमीश्वरः नामरूपे व्याकरवाणीत्यन्वयः**"। **अत्र प्रमाणम्—**

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते॥

एक शरीर में जीवात्मा और परमात्मा का विद्यमान होना और सङ्ग रहना प्रतिपादित है। इस से जीव और ईश्वर का एक मानना केवल जङ्गली पुरुषों की कथा है, ऋषि मुनि विद्वानों की यह कथा नहीं।

ईश्वर ने अपने सामर्थ्य से जगत् को बनाया है, इस में प्रमाण:—

त्वमस्य पारे रजसो व्योमनः स्वभूत्योजा अवसे धृषन्मनः।
चकृषे भूमिं प्रतिमानमोजसोऽपः स्वः परिभूरेष्या दिवम्॥ १॥

ऋ० सं० अ० १। अ० ४। व० १३। मंत्र १२॥

(अर्थ)—हे परमेश्वर! आपने (स्वभूत्या) स्वसामर्थ्य तथा (ओजा) अनन्त पराक्रम से भूमि, जल, स्वर्ग तथा दिव अर्थात् भूमि से लेके सूर्यपर्यन्त सब जगत् को बनाया है, रक्षण और धारण तथा प्रलय आप ही करते हो॥१॥

न यस्य द्यावापृथिवी अनुव्यचो न सिन्धवो रजसो अन्तमानशुः।
नोत स्ववृष्टिं मदे अस्य युध्यत एको अन्यच्चकृषे विश्वमानुषक्॥ २॥

ऋ० सं० अ० १। अ० ४। व० १४। मंत्र १४॥

(अर्थ)—हे परमेश्वर! एक असहाय विश्व सब जगत् जो कि आप का अनुसङ्गी आपके रचन और धारण से विद्यमान हो रहा है, सो आपसे अलग ही है, आप का स्वरूपभूत नहीं। क्योंकि:—"**अन्यद्विश्वं स्वस्माद्भिन्नं त्वं चकृषे कृतवानसि**"। इस सब जगत् को आपने स्वरूप से अन्यत् भिन्न वस्तुभूत रचा है, आप जगत्रूप नहीं बने॥ २॥

तथा—

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः॥ ३॥
नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्॥ ४॥

जो सूक्ष्म से सूक्ष्म, बड़े से बड़ा परमात्मा इस जीव के ज्ञान अर्थात् जीव के बीच में निहित (स्थित) है, परन्तु उस सर्वात्मा को अभिमानशून्य, शोकादिदोषरहित, परमात्मा का कृपापात्र जीव ज्ञान से देखता है। और उस आत्मा अन्तर्यामी परमात्मा की महिमा सर्वशक्तिमत्त्व और व्यापकत्वादि गुण को भी वही देखता है, अन्य नहीं॥ ३॥

इसमें भी जीव ईश्वर का भेद निरूपित है।

और जो परमात्मा प्रकृति और जीवादि के बीच में नित्य है, तथा चेतन जो जीव उनके बीच में चेतन है, बहुत असङ्ख्यात जीवादि पदार्थों के बीच में एक है, तथा जो पृथिव्यादि स्वर्ग-पर्यन्त पदार्थों का रचन किंवा ज्ञान से सब कामों का विधान प्राप्त करता है, उस परमात्मा को जो जीव अपने आत्मा में ध्यान से देखते हैं, उन जीवों को ही निरन्तर शान्ति सुख प्राप्त होता है, अन्य को नहीं॥ ४॥

इससे भी 'आत्मस्थ' शब्द प्रत्यक्ष होने से ईश्वर और जीव का व्यापक व्याप्य, तथा अन्तर्यामी अन्तर्याम्य सम्बन्ध होने से जीव और ब्रह्म एक कभी नहीं होते। व्याससूत्र—

नेतरोऽनुपपत्तेः॥

ब्रह्म से इतर अन्य किसी जीव से जगत् रचना की चेष्टा नहीं हो सकती॥

भेदव्यपदेशाच्च॥

ब्रह्म और जीव दोनों भिन्न ही हैं॥

मुक्तोपसृप्य व्यपदेशात्॥

मुक्त पुरुष ब्रह्म को प्राप्त होके आनन्दी होते हैं॥

प्राणभृच्च॥

प्राणधारी जीव जगत् का कारण नहीं॥

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां नेतरौ॥

विशेषण दिव्य और सर्वज्ञादि भेदव्यपदेश, जीव और प्रकृत्यादि से परमात्मा परे है॥

इससे जीव और प्रकृति जगत् के कारण नहीं हैं। जो जीव और ब्रह्म पृथक् न होते तो जगत् के कारण होने में निषेध न करते। और जो जीव ब्रह्म एक होते तो निषेध का सम्भव नहीं हो सकता। इत्यादि व्यास के शारीरक सूत्रों से भी स्पष्ट सिद्ध होता है कि जीव और ब्रह्म एक नहीं, किन्तु अलग अलग हैं॥

तथा नवीन वेदान्ती लोगों ने पञ्चीकरण की कल्पना निकाली है, सो भी अयुक्त है। त्रिवृत्करण छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है, क्योंकि आकाश का पंचीकरण विभाग वा संयोग करना असम्भव है।

नवीन वेदान्ती लोगों के प्रचार से मनुष्य के सुखादि की अत्यन्त हानि होती है क्योंकि इन लोगों में दो बड़े दोष हैं, एक जगत् को मिथ्या मानना और दूसरा जीव ब्रह्म को एक मानना।

जगत् मिथ्या मानने में ऐसा कहते हैं कि यह जगत् स्वप्न के तुल्य है। सो यह उनका कहना मिथ्या है। जिसकी उपलब्धि होती है और जिसका कारण सत्य है, उसको मिथ्या कहनेवाले का कहना मिथ्या है। स्वप्न भी दृष्ट और श्रुत संस्कार से होता है। दृष्ट और श्रुत संस्कार प्रत्यक्षानुभव के विना स्वप्न ही नहीं होता। सर्वज्ञ और अवस्थादि रहित होने से परमात्मा को तो स्वप्न ही नहीं होता।

जो जीव ब्रह्म हो तो जैसी ब्रह्म ने यह असंख्यात सृष्टि की है वैसे एक मक्खी वा मच्छर को भी जीव क्यों नहीं कर सकता? इससे जगत् को मिथ्या और [जीव]-ब्रह्म की एकता मानना ही मिथ्या है। जगत् को मिथ्या मानने में जगत् की उन्नति परस्पर प्रीति और अविद्यादि गुणों की प्राप्ति करने में पुरुषार्थ और श्रद्धा अत्यन्त नष्ट होने से जगत् के जितने उत्तम कार्य हैं, वे सब नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं।

जीव और ब्रह्म को एक मानने से परमार्थ सब नष्ट हो जाता है, क्योंकि परमेश्वर की आज्ञा का पालन, स्तुति, प्रार्थना, उपासना करने की प्राप्ति बिलकुल छूटने से केवल मिथ्याभिमान, स्वार्थसाधनतत्परता, अन्याय का करना, पाप में प्रवृत्ति, इन्द्रियों से विषयों के भोग में फँसने से अत्यन्त

पामरता और पतितादिक दोषयुक्त होके अपने मनुष्य जन्म धारण करने के जो कर्त्तव्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों फल नहीं होने से, मूर्त्तिपूजनादि व्यवहारों के करने से उस जीव का जन्म निष्फल हो जाता है।

इससे मनुष्यों को उचित है कि सद्विद्यादिक उत्तम गुणों का जगत् में प्रचार करना, व्यवहार परमार्थ की शुद्धि और उन्नति करना तथा वेदविद्यादि सनातन ग्रन्थों का पठनपाठन और नाना भाषाओं में वेदादि सत्यशास्त्रों का सत्यार्थप्रकाश करना, एक निराकार परमात्मा की उपासनादि का विधान करना, कलाकौशलादि से स्वदेशादि मनुष्यों का सुखविधान, परस्पर प्रीति का करना, हठ दुराग्रह दुष्टों के संगादि को छोड़ना, उत्तम-उत्तम पुरुष तथा स्त्री लोगों की सभाओं से सब मनुष्यों का हिताहित विचारना और सत्य व्यवहारों की उन्नति करना, इत्यादि मनुष्यों को अवश्य कर्त्तव्य है। इन को सब विरोध छोड़ के सिद्ध करना, यही सब सज्जनों से हमारा विज्ञापन है, इसको सज्जन लोग अवश्य स्वीकार करेंगे, ऐसी मुझ को पूर्ण आशा है।

सो इसकी सिद्धि के लिये सर्वशक्तिमान्, सब जगत् के पिता, माता, राजा, बन्धु जो परमात्मा उनसे मैं अत्यन्त नम्र हो के प्रार्थना करता हूँ कि सब मनुष्यों पर कृपा करके असन्मार्ग से हटा के सन्मार्ग में चलावें, यही हमारा परम गुरु है॥